आवश्यक सूत्र

❋श्रीमती शान्ता मोदी

आवश्यकसूत्र में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान नामक षड्विध आवश्यकों का निरूपण है। यह सूत्र श्रमण-श्रमणियों के लिए ही नहीं श्रावकों के लिए भी पाप-क्रियाओं से बचकर धर्ममार्ग में अग्रसर होने की प्रायोगिक विधि प्रस्तुत करता है। यह पाप-शोधन के साथ भाव-विशुद्धि की ओर सजग बनाता है। वरिष्ठ स्वाध्यायी एव पूर्व व्याख्याता श्रीमती शान्ता जी ने आवश्यक सूत्र पर सारगर्भित महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।-**सम्पादक**

जैन आगम-साहित्य में आवश्यक सूत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। अनुयोगद्वार चूर्णि में आवश्यक को परिभाषित करते हुए लिखा है– जो गुणशून्य आत्मा को प्रशस्त भावों में आवासित करता है, वह आवासक या आवश्यक है। अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में लिखा है कि जो समस्त गुणों का निवास स्थान है वह आवासक या आवश्यक है। आवश्यक जैन-साधना का प्राण है। वह जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का जीवन्त भाष्य है। साधक चाहे साक्षर हो चाहे निरक्षर हो, चाहे सामान्य हो या प्रतिभा का धनी, सभी साधकों के लिये आवश्यक का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इसके द्वारा साधक अपनी आत्मा का पूर्ण अवलोकन करता है। वह आध्यात्मिक समता, नम्रता प्रभृति सद्गुणों का आधार है। अन्तर्दृष्टि सम्पन्न साधक का लक्ष्य बाह्य पदार्थ नहीं, आत्मशोधन है। जिस साधना और आराधना से आत्मा शाश्वत सुख का अनुभव करे, कर्ममल को नष्ट कर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से अध्यात्म के आलोक को प्राप्त करे, वह आवश्यक है। अपनी भूलों को निहार कर उन भूलों के परिष्कार के लिये कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। आवश्यक का विधान श्रमण हो या श्रमणी हो, श्रावक हो या श्राविका हो, सभी के लिये है।

आचार्य मलयगिरि कहते हैं– 'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्'

अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिये हैं– आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह विशोधि, अध्ययनषट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।

जैन दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत ही गम्भीर व सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रत्येक साधना एवं प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। बाह्य दृष्टि वाले लोग द्रव्य-प्रधान होते हैं जबकि अन्तर्दृष्टि वाले भाव प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है– अन्तरंग उपयोग के बिना केवल परम्परा के आधार पर किया जाने वाला पुण्यफल का इच्छारूप आवश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य आवश्यक है। द्रव्य का अर्थ है प्राण रहित शरीर। बिना प्राण के शरीर केवल दृश्य वस्तु है, गतिशील नहीं। आवश्यक के मूल पाठ बिना उपयोग व विचार से बोलना, दैनिक जीवन में किसी तरह का संयम नहीं रखना और सुबह-शाम आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन-क्रिया में लग जाना, द्रव्य क्रिया ही है। विवेकहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं दे सकती।

भाव आवश्यक का अर्थ— अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना से रहित, यशकीर्ति, सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन, वचन, शरीर को निश्चल, निष्काम, एकाग्र बनाकर आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाज्ञा के अनुसार विचरण कर, आवश्यक संबंधी मूल पाठों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिये,दोनों काल सामायिक आदि आवश्यक की साधना करना है, केवल क्रिया आत्मशुद्धि नहीं कर सकती है।

भाव आवश्यक का स्वरूप अनुयोगद्वार सूत्र में बताया गया है—
जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिकरणे, तब्भावणा भाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणे अकरेमाणे उभओकाल आवस्सयं करेंति, से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं

जैन संस्कृति में और वैदिक संस्कृति के नित्य कर्मों के विधान में भिन्नता है। ब्राह्मण संस्कृति संसार की भौतिक व्यवस्था में अधिक रस लेती है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के कार्यकलापों में भिन्नता लिये हुए है। किन्तु जैन संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है । जैन धर्म के षडावश्यक मानव मात्र के लिये एक जैसे हैं। चाहे वह किसी भी जाति, लिंग वर्ग का हो, उसे सहज रूप से कर सकता है और मानव अपना कल्याण कर सकता है।

आवश्यक निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकरों के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म प्ररूपित किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १२४४ में स्पष्ट किया गया है—

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।।

श्रावकों के लिये भी आवश्यक की जानकारी आवश्यक मानी गई है। आवश्यक सूत्र के छः अंग हैं—

१. **सामायिक**— समभाव की साधना
२. **चतुर्विंशतिस्तव**— चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति
३. **वन्दन**— सद्गुरुओं को नमस्कार, उनका गुणगान
४. **प्रतिक्रमण**— दोषों की आलोचना
५. **कायोत्सर्ग**— शरीर के ममत्व का त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. प्रत्याख्यान आहार आदि का त्याग

ज्ञानसार में आचार्य ने आवश्यक क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है— आवश्यक क्रिया पहले से प्राप्त भाव-विशुद्धि से आत्मा को गिरने नहीं देती। गुणों की वृद्धि के लिये और प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिये आवश्यक क्रिया का आचरण बहुत उपयोगी है। आवश्यक में जो साधना का क्रम रखा गया है वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक के लिये सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता अपनाये सद्गुणों के सरस सुमन नहीं खिलते और अवगुणों के काँटे नहीं झड़ते। समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों को जीवन में उतार सकता है। इसलिये सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक रखा गया है। जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वह उन्हें वन्दन करता है, इसीलिये तृतीय आवश्यक वन्दन है। वन्दन करने वाले साधक का हृदय सरल होता है। इसी कारण वह कृत दोषों की आलोचना करता है। अतः वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। भूलों का स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिये तन एवं मन में स्थैर्य आवश्यक है। कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है जिससे स्थिरवृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल हो तो प्रत्याख्यान संभव नहीं है। इसीलिये छठा आवश्यक प्रत्याख्यान रखा गया है। इसी प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण, आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

1. सामायिक

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिये आवश्यक है। सर्वप्रथम श्रावक सामायिक चारित्र ग्रहण करता है। चारित्र के पाँच प्रकार हैं, उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। सामायिक चारित्र चौबीस तीर्थंकरों के शासन काल में रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नहीं हैं। श्रमणों के लिये सामायिक प्रथम चारित्र है, तो गृहस्थ साधकों के लिये सामायिक चार शिक्षा व्रतों में प्रथम शिक्षा व्रत है। जैन आचार दर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ़ नींव पर आधारित है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट किया है कि साधक चाहे दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समभाव में स्थित होगा वह निःसन्देह मोक्ष को प्राप्त करेगा—

दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।
एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक की साधना विशुद्ध साधना है। करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उनको समभावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है। आत्म स्वरूप में स्थित रहने के कारण शेष रहे कर्मों की वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिये आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—

सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः।
क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्।।

आचार्य मलयगिरि ने लिखा है— रागद्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यक भाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना से सम की प्राप्ति हो, वह सामायिक है। 'सम' का अर्थ श्रेष्ठ होता है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है। अहिंसा आदि श्रेष्ठ साधना समय पर की जाती है वह सामायिक है।

मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित करना तथा उन्हें वश में कर लेना सामायिक है। विषय, कषाय और रागद्वेष से अलग रहकर सदा समभाव में स्थित रहता है। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख हो, चाहे दुःख वह सदा समभाव में रहता है।

आचार्य भद्रबाहु—

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ पिंड कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का सार बताया है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने फरमाया—

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में तीन भेद बताये हैं— १. सम्यक्त्व-सामायिक २. श्रुत-सामायिक ३. चारित्र-सामायिक। समभाव की साधना के लिये सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र ही प्रधान साधन है। सम्यक्त्व से विश्वास की शुद्धि होती है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है और चारित्र से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध और निर्मल बना देते हैं जिससे परमात्मा की कोटि तक पहुँचा जा सकता है। चारित्र सामायिक दो प्रकार की होती है— सर्व विरति सामायिक और देशविरति सामायिक। श्रावक के लिये देश विरति सामायिक है, जिसमें दो करण तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है। सर्व विरति में तीन करण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन योग से त्याग किया जाता है। इसमें साधक पूर्ण रूप से अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का मन, वचन और शरीर से पूर्णतया पालन करता है। सामायिक के मुख्य दो भेद बताये हैं— १. द्रव्य सामायिक २. भाव सामायिक।

सामायिक ग्रहण करने के पूर्व कुछ विधि विधान किये जाते हैं, जैसे— आसन, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, धार्मिक उपकरण आदि एक स्थान पर रखे जाते हैं। वे स्वच्छ और सादगीपूर्ण हों। भाव सामायिक वह है जिसमें साधक यह चिन्तन करता है कि मैं अजर, अमर एवं चैतन्य स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। मेरा स्वभाव ज्ञानमय, दर्शनमय है। मेरा स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। यह साधना जीवन को सजाने व संवारने की विधि है। जिससे इह लोक व परलोक दोनों ही साार्थक हो जायेंगे।

2. चतुर्विंशतिस्तव

यह भक्तिभाव का परिचायक आवश्यक है। इसकी साधना में व्यक्ति आनंद विभोर हुए बिना नहीं रह सकता। तीर्थंकर भगवान त्याग और वैराग्य की दृष्टि से, संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का उत्कीर्तन करने से साधक के अन्तर्हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। उसके सम्मुख त्याग-वैराग्य की ज्वलन्त प्रतिकृति आती है, जिससे उसका अहंकार स्वतः लुप्त हो जाता है।

आलोचना के क्षेत्र में पहुँचने से पूर्व क्षेत्र शुद्धि होना आवश्यक है। साधक समभाव में स्थिर बने, फिर गुणाधिक महापुरुषों की स्तुति करे। महापुरुषों का गुण कीर्तन प्रत्येक साधक के लिये प्रेरणा का स्रोत होता है। उनकी शरण में जाने से उसे प्रेरणा मिलेगी और आध्यात्मिक जीवन की कला को सीख लेगा। इस विषय पर गणधर गौतम ने भगवान से प्रश्न किया—

प्रश्न— चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

भगवान महावीर ने उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट कर दिया कि इससे दर्शन मोहनीय नष्ट होकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसलिये आवश्यक सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव का अत्यधिक महत्त्व है।

3. वन्दना

आवश्यक सूत्र का तीसरा अध्ययन वन्दना है। आलोचना क्षेत्र में प्रवेश करते समय गुरुभक्ति एवं नम्रता का होना आवश्यक है। देव के बाद गुरु का क्रम आता है। तीर्थंकरों के गुणों का गुणगान करने के बाद साधक गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन करता है। वह वन्दना द्वारा गुरु के प्रति भक्ति व बहुमान प्रकट करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

. वन्दन करने योग्य गुरु को ही वन्दन करना है, इसका पूरा विवेक रखना है। वन्दन करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखना है, क्योंकि साधक जब तक यह सारी जानकारी नहीं कर लेगा, वन्दन का लाभ नहीं हो सकेगा। असंयमी पतित को वन्दन करने का अर्थ है पतन की ओर जाना। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि– जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है तो उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होती है और न कीर्ति। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को भी दोष लगता है। जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से सम्पन्न त्यागी, वीतरागी, आचार्य, उपाध्याय, स्थावर एवं गुरुदेव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दन करने से भव्य साधक आत्म कल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिये ऐसा गुरु चाहिये जो बाह्य और अन्तर से पूर्ण शुद्ध हो तथा व्यवहार व निश्चय दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो।

वन्दना आवश्यक यथाविधि करने से विनय की प्राप्ति होती है। गुरु वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। मन के कण-कण में भक्ति भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्यवन्दन हो जाता है। जिससे साधक की उन्नति नहीं हो पाती है। आचार्य मलयगिरि आवश्यक वृत्ति में द्रव्य और भाव वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं– **द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग् दृष्टेरुपयुक्तस्य।**

वन्दन से विनय गुण प्रकट होता है और विनय धर्म का मूल है। यदि शुद्ध भावों से वन्दन कर लिया जाय तो तीर्थंकर गोत्र भी उपार्जित किया जा सकता है। इसलिये आवश्यक सूत्र में तीसरा पद वन्दन को रखा गया है।

4. प्रतिक्रमण

चौथा अध्ययन प्रतिक्रमण का है। व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की आवश्यकता है। प्रतिदिन यथासमय यह चिन्तन करना कि आज आत्मा व्रत से अव्रत में कितना गया? कषाय की ज्वाला कितनी बार प्रज्वलित हुई? हुई तो निमित्त क्या बना? वह कषाय कैसा था- अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी या संज्वलन? क्रोध के आवेश में किस प्रकार के शब्दों का उच्चारण किया है आदि सूक्ष्म रूप से चिन्तन-मनन करना तथा आये हुए अशुभ विचारों को शुद्ध करना ही प्रतिक्रमण है। आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण को व्याख्या करते हुए बताया–

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।

'प्रतिक्रमण' जैन परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है– पुनः लौटना। हम अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले जाते हैं। अतः पुन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु किये गये पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये पाँचों भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः और संध्या के सुहावने समय में अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है, उस समय वह गहराई से चिन्तन करता है कि वह सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व के मार्ग की ओर तो नहीं जा रहा है।

आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि साधक को प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से चिन्तन करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण के चार भेद बनते हैं। उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति में बताया है—

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए अ।।

साधु व श्रावक के लिये क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। उसमें दोष न लगे, इसके लिये सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि साधु और श्रावक सावधान रहता है, फिर भी कभी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की स्खलना हो गई हो तो उनकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये।

साधु और श्रावक के लिये एक आचारसंहिता आगम साहित्य में निरूपित है। साधु के लिये ध्यान, प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि अनेक विधान हैं तो श्रावक के लिये भी दैनंदिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में भी त्रुटि हो जाय तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिये।

आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना बहुत कठिन है। वह तो आगम के प्रमाणों के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उनके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिये साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

हिंसा आदि दुष्कृत्य, जिनका महर्षियों ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करें। यदि असावधानीवश हो गया हो तो उनकी शुद्धि करें।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रतिक्रमण दो प्रकार के बताये गये हैं— द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण में साधक एक स्थान पर स्थित होकर बिना उपयोग के यशप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करता है। यह प्रतिक्रमण यंत्र की तरह चलता है, उसमें चिन्तन का अभाव होता है। पापों के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती। केवल मात्र दिखावा ही है। इससे जैसी शुद्धि होनी चाहिये वैसी नहीं हो पाती।

भाव प्रतिक्रमण में साधक अन्तर्मन से किये हुये पापों की आलोचना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। दृढ़ निश्चय करना है कि दोष प्रवेश के लिये अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। भविष्य में दोष नहीं लगे इस बात का चिन्तन ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। भाव प्रतिक्रमण करने वाला सर्वथाभावेन प्रायश्चित्त करता है और अपनी आत्मा को पुनः शुद्ध स्थिति में पहुँचाने का प्रयत्न करता है। भाव प्रतिक्रमण के लिये आचार्य जिनदास कहते हैं—

"भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति।।"

आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

भावपडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं।।

मिच्छाताइ ण गच्छइ, ण व गच्छावेइ णाणु जाणेई जं मण–वय–काएहिं, तं भणियं भाव पडिक्कमणं।

आचार्य ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताया है—

१. भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

२. वर्तमानकाल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।

३. प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

इसी तरह भगवती सूत्र में भी कहा है—

अइयं पडिक्कमेइ, पडुप्पनं संवरेइ अणागयं पच्चक्खाई।

विशेष काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गये हैं— देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक। साधक को इनका आचरण करना चाहिये।

श्रमण की जीवनचर्या के लिये प्रतिक्रमण के छः प्रकार अलग से बताये हैं— १. उच्चार प्रतिक्रमण २. प्रस्रवण प्रतिक्रमण ३. इत्वर प्रतिक्रमण ४. यावत्कथित प्रतिक्रमण ५. यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण ६. स्वप्नादिक प्रतिक्रमण। संक्षेप में जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, वे इस प्रकार हैं— २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार, १८ पाप स्थानों का प्रतिक्रमण। चौरासी लाख जीवयोनि से क्षमायाचना करना सभी साधकों के लिये है।

पाँच महाव्रत, मन, वाणी, शरीर का असंयम, गमन, भाषण, याचना, ग्रहण, निक्षेप एवं मलमूत्र विसर्जन आदि से संबंधित दोषों का प्रतिक्रमण भी श्रमण साधकों के लिये आवश्यक है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण श्रावकों के लिये आवश्यक है। जिन साधकों ने संलेखनाव्रत ग्रहण कर रखा है, उनके लिये संलेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण साधक जीवन की अपूर्व क्रिया है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिखकर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है, प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि में सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमाद भाव को दूर करने के लिये है। साधक के जीवन में प्रमाद विष है जो साधना के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। इसलिये साधु व श्रावक दोनों का कर्त्तव्य है कि प्रमाद से बचे और प्रतिक्रमण के द्वारा अपनी साधना को अप्रमत्तता की ओर अग्रसर करे।

5. कायोत्सर्ग

प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद पाँचवां स्थान कायोत्सर्ग है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रण-चिकित्सा है। आवश्यक सूत्र में चिन्तन करते हुए लिखा है—संयमी जीवन को अधिक परिष्कृत करने के लिये, आत्मा को माया-मिथ्यात्व और निदान-शल्य से मुक्त करने के लिये, पाप कर्मों के निर्घात के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग में काय और उत्सर्ग ये दो शब्द हैं जिसका अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग करना। यह अनुभव में आना चाहिये कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है, जो अजर, अमर, अविनाशी है। देह में रहकर देहातीत स्थिति में रहता है। इस पर आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है—

वासी चंदणकप्पो,जो मरणे जीविए य समसण्णो। देहे य अपडिबद्धो,काउस्सग्गो हवइ तस्स।
तिविहाणुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरियाण। सम्ममहियासणाए, काउसग्गो हवइ सुद्धो।

कायोत्सर्ग के दो भेद आगम साहित्य में बताये हैं— द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग से तात्पर्य है— शरीर को बाह्य क्रियाओं से मुक्त करके निश्चल व निःस्पन्द हो जाना। भाव कायोत्सर्ग में दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना होता है। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिये भूमिका मात्र है। आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउसग्गो झाणं।।

इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा गया है कि —"**काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खमोक्खणं।** कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् ही आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है, जिससे साधक धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में एकाग्रता प्राप्त कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. प्रत्याख्यान

छठे आवश्यक का नाम प्रत्याख्यान है। इसका अर्थ है--त्याग करना। प्रत्याख्यान की रचना प्रति+आ+आख्यान इन तीनों शब्दों के संयोग से हुई है। प्रवचनसारोद्धारवृत्ति में व्याख्या करते हुए लिखा है– अविरति स्वरूप प्रभृति प्रतिकूलता आ--मर्यादया आकार--करण स्वरूपया आख्यानं —कथनं प्रत्याख्यानम्।

अविरति और असंयम के प्रतिकूल रूप में मर्यादा के साथ प्रतिज्ञा ग्रहण करना प्रत्याख्यान है।

मानव अपने मन में कई इच्छाओं का संग्रह रखता है। उन इच्छाओं पर नियंत्रण करना ही प्रत्याख्यान है। जिससे आसक्ति और तृष्णा समाप्त हो जाती है। जब तक आसक्ति बनी रहती है तब तक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है। उसको दृढ़ रखने के लिये प्रत्याख्यान किये जाते हैं। अनुयोग में प्रत्याख्यान को एक नाम और दिया है 'गुणधारण'। इसका तात्पर्य है कि व्रतरूपी गुणों को धारण करना। मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभ योगों में प्रवृत्ति केन्द्रित करना। शुभ योगों में केन्द्रित करने से इच्छाओं का निरोध होता है, तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं, अनेक गुणों की उपलब्धि होती है। आवश्यक निर्युक्ति में भद्रबाहु स्वामी ने बताया कि तृष्णा के अंत में अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है। उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्र धर्म प्रकट होता है चारित्र से कर्म निर्जीर्ण होते हैं। उसमें केवलज्ञान, केवलदर्शन का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

आवश्यक सूत्र एक ऐसा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उस पर सबसे अधिक व्याख्याएँ लिखी गई हैं। आगमों पर दस निर्युक्तियाँ लिखी गयी हैं। उनमें प्रथम निर्युक्ति का नाम आवश्यक निर्युक्ति है। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। अन्य निर्युक्तियों को समझने के लिए आवश्यक निर्युक्ति को समझना पड़ता है। अतः आवश्यक सूत्र साधक जीवन के लिये बहुत ही उपयोगी है। जिससे मनुष्य जीवन की दैनिक क्रियाओं में किस तरह पाप से बचकर धर्म के मार्ग पर अग्रसर हुआ जाय, यह प्रायोगिक विधि अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने की सर्वश्रेष्ठ कुंजी है। अनेकानेक भव्य जीव इसकी आराधना करके इस आत्मा के अन्तिम पड़ाव पर पहुंच गए। इस जीव को जन्म-मरण से मुक्त कर लिया और अनंत सुख में लीन हो गए।

–सी 26, देवनगर, टोंक रोड, जयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org